हमें रक्त के बारे में कैसे पता चला?

आइज़िक ऐसिमोव
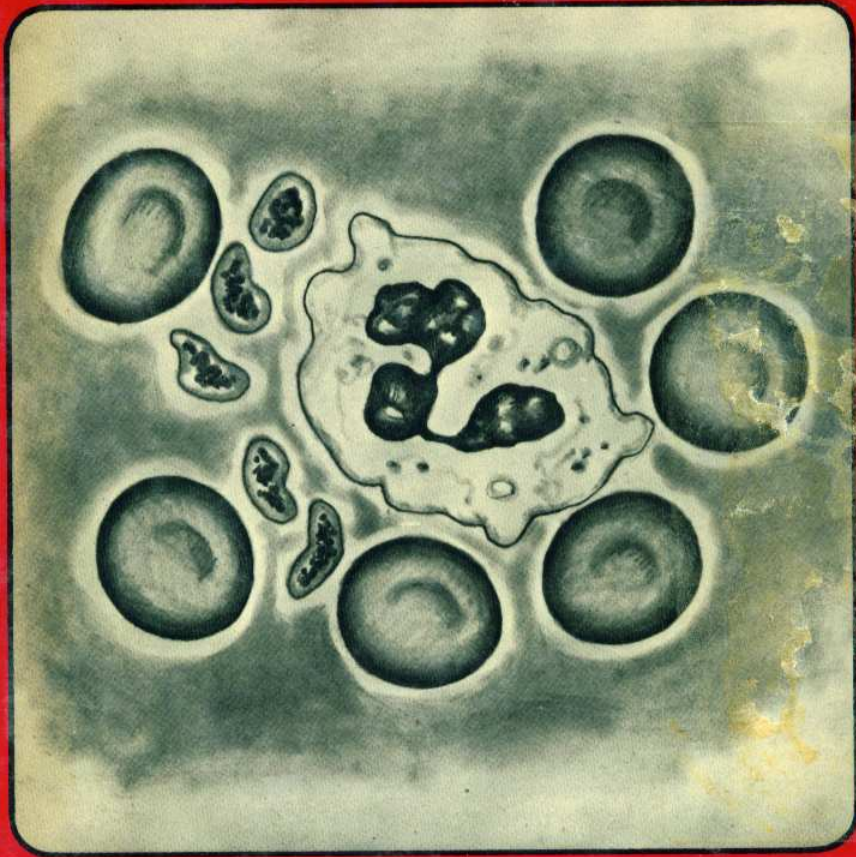
हिंदी अनुवाद: अरविन्द गुप्ता

HOW DID WE FIND OUT ABOUT BLOOD?

By: Isaac Asimov

Hindi Translation : Arvind Gupta
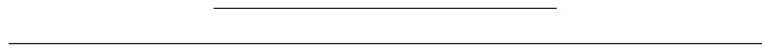
हमें रक्त के बारे में कैसे पता चला?

1 हृदय
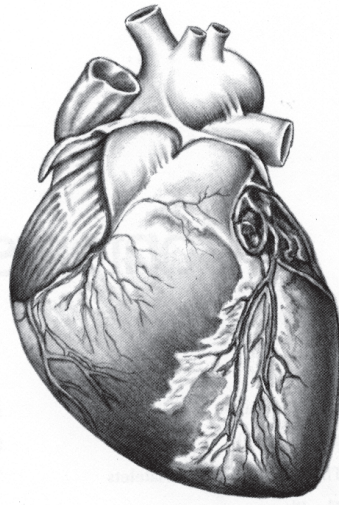
हृदय **The heart**

अगर हमारा शरीर कहीं कट जाए तो उसमें से खून निकलता है। जानवरों में भी इसी तरह खून निकलता है। इससे हम खून के बारे में जानते हैं।

खून बहुत जरूर है, यह बात भी हम जल्दी समझ जाते हैं। जिन लोगों के शरीर से बहुत ज्यादा खून निकलता है वे बहुत कमजोर हो जाते हैं। उन्हें स्वस्थ्य होने में बहुत समय लगता है। शरीर से बहुत ज्यादा खून निकलने से लोग मर भी सकते हैं।

इस वजह से बहुत से लोग खून को जीवन मानने लगे। वो रक्त को शरीर का जीवन वाला भाग मानने लगे।

उदाहरण के लिए बाइबिल में ईजराइलवासियों को यह हिदायत दी गई है कि वे रक्त से सना मांस न खाएं। बुक ऑफ ड्यूटोरमोनी

(अध्याय 12, छंद 23) में लिखा है: 'यह सुनिश्चित करो कि तुम रक्त मत खाओ, क्योंकि रक्त जीवन है।'

यह सही नहीं हो सकता। क्योंकि खून बिना निकले भी बहुत से लोग और जानवर मरते हैं। इसका यह मतलब नहीं कि रक्त जीवन के लिए महत्वपूर्ण नहीं है। इसका यह आशय है कि जीवन के लिए रक्त ही नहीं अन्य बातें भी महत्वपूर्ण हैं।

ईसा से 400 साल पहले यूनानी चिकित्सक हिपोकरोहटीज (460-370 ईसा पूर्वी) और उनसे अनुयायियों के अनुसार शरीर में चार महत्वपूर्ण तरल थे जिनमें से एक रक्त था। इन चारों तरलों का आपस में सही संतुलन ही अच्छी सेहत का राज था।

आज हम जानते हैं कि अच्छी सेहत का मामला इससे कहीं अधिक जटिल है। पर अच्छे स्वास्थ्य में रक्त की एक अहम भूमिका है इसे भी हम स्वीकारते हैं।

ऐसा नहीं है कि शरीर में रक्त एक जगह पर सोया पड़ा रहता है। जब किसी का शरीर कटता है तो उसमें से खून बहुत तेजी से बहता है। इसके साथ-साथ खून का बहना दिल की धड़कन के साथ कम-ज्यादा होता है। इससे कुछ लोगों को लगा कि हमारा हृदय खून को लगातार अंदर की ओर खींचता है और बाहर की ओर धक्का देता है।

हरेक व्यक्ति का दिल धड़कता है। सीने पर हाथ रख कर आप अपने हृदय की धड़कन को महसूस कर सकते हैं। हृदय नियमित रूप से धड़कता है - व्यस्कों एक मिनट में सत्तर बार और बच्चों में कुछ अधिक तेजी से। जब तक आप जिन्दा हैं तब तक आपका हृदय धड़कता रहेगा। मरने पर दिल की धड़कन बंद हो जाएगी।

इससे लगता है कि खून से ज्यादा महत्वपूर्ण है - बहता हुआ खून जो हृदय द्वारा सम्पन्न होता है।

प्राचीन काल में कुछ लोगों का मानना था कि हृदय शरीर का जीवित और भावनाओं को समझने वाला अंग है। अगर आप डरे हों, या बहुत गुस्से में हों तो आपका हृदय बहुत ज्यादा तेजी से धड़कता है। और सोते समय दिल की धड़कन भी धीमी हो जाती है। जब आप अधिक सक्रिय होते हैं तो आपका हृदय भी ज्यादा सक्रिय होता है। जब आप शांत होते हैं तो दिल भी धीमे धड़कता है।

यूनानी दार्शनिक अरस्तू (384-322 ईसा पूर्वी) हृदय के महत्व से इतने प्रभावित थे कि उन्हें हृदय, शरीर में सोच का केंद्र लगा। बाद में यह गलत साबित हुआ पर फिर भी हृदय बेहद महत्वपूर्ण है।

शरीर के अंदर क्या हो रहा है इसके बारे में हम कैसे जान सकते हैं? आप एक जीवित शरीर को काटकर उसके अंदर झांक सकते हैं। ऐसा करने से उस व्यक्ति को बहुत दर्द होगा और वो मर जाएगा। उसकी बजाए आप चाहें तो किसी मृत देह को काट सकते हैं। पर प्राचीन काल में इसे बहुत घृणित माना जाता था। इसलिए शरीर के 'डिसेक्शन' जिसका लैटिन में अर्थ होता है 'अलग-अलग हिस्से करना' पर मनाही थी।

पर जानवरों को तब भी नियमित रूप से काटा जाता था। जानवरों को भोजन पकाने के लिए या फिर ईश्वर को बलि चढ़ाने के लिए काटा जाता था।

कसाईयों की जानवरों के अंगों का अध्ययन करने में कोई रुचि नहीं थी। उनकी रुचि उस जानवर का मांस बेंचने में या फिर उसे भोजन के लिए पकाने में थी।

जो पुजारी जानवरों को बलि चढ़ाते वे कभी-कभी जानवरों के आंतरिक अंगों में रुचि लेते। अंगों के आकार के आधार पर वे भविष्यवाणियां करते। (ऐसा करना सरासर गलत था।)। भविष्यवाणी करने में उन्हें बिल्कुल देर नहीं लगती और वो जानवरों का अध्ययन भी ठीक से नहीं करते। और अगर वे अपनी जांच-परख ठीक से करते तो भी जानवरों के अंग मनुष्यों से बहुत अलग होते हैं।

अरस्तू के बाद से वैज्ञानिक मनुष्य के शरीर के आंतरिक अंगों का गहराई से अध्ययन करने लगे।

मिस्त्र के शहर एलिग्जैन्ड्रिया में इसके लिए एक अध्ययन केंद्र शुरू किया गया। इसका नाम पड़ा म्यूजियम और 300 से 250 ईसा पूर्व में यहां मनुष्य के मृत शरीरों की सम्भाल कर काट-छांट (डिसेक्शन) की गई। शरीर के ढांचे को समझा गया। इसका नाम 'एनाटमी' पड़ा जिसका यूनानी में अर्थ होता है 'काटना'।

ईसा पूर्वी 300 में यूनानी चिकित्सक प्रैकसैगयूरस ने दिखाया कि हृदय से नलियां जुड़ी हुई थीं। उनमें से कुछ नलियां रक्त से भरी थीं। उन्हें 'वेन्स' या नस कहते हैं।

हृदय से कुछ और नलियां जुड़ी थीं जो खाली थीं और उनमें सिर्फ हवा थी। प्रैकसैगयूरस को लगा कि यह नलियां शरीर के विभिन्न अंगों तक हवा पहुंचाने का काम करती हैं। आज भी हम उन नलियों को 'आरट्रीज' या धमनियां कहते हैं। यूनानी में 'आरट्रीज' का मतलब होता है - हवा की वाहक। 'आरट्रीज' और 'वेन्स' को रक्तधमनियां भी कहते हैं।

Blood vessels

रक्तधमनियां

Cross section of heart

हृदय का कटान
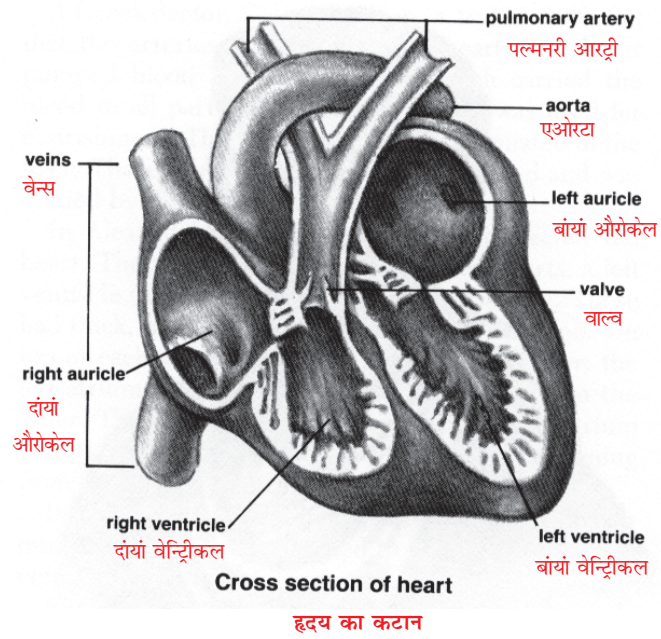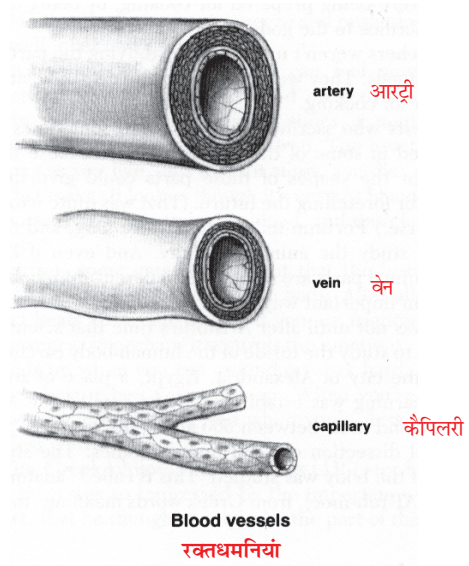
डिसेक्शन के अध्ययनों से डाक्टरों को जीवित प्राणियों में रक्त धमनियों की स्थित के बारे में मालूम पड़ा। हिरोफिलस ने पाया कि जब धमनियां त्वचा के पास आती हैं तब आप उनकी धड़कन को वैसे ही महसूस कर सकते हैं जैसे वो एक छोटा हृदय हो। इसे 'पल्स' या नाड़ी कहते हैं। उन्हें दोनों आरट्रीज और वेन्स रक्त की वाहिनी लगीं, न की हवा की।

और यह सही भी था। हृदय, धमनियों में रक्त फेंकता है। हृदय की हरेक धड़कन के साथ और रक्त के जोर से फेंके जाने के बाद आरट्री की मोटी मांसपेशियों वाली दीवार फैलती है और उसके बाद यह दीवार दुबारा सिकुड़ती है। इससे ही नाड़ी की धड़कन जारी रहती है। वेन्स में पतली मांसपेशियों की दीवार होती है जिनमें शांति से रक्त बहता है।

Galen c.130–c.200

गेयलन (130–200)

किसी व्यक्ति के मरने के बाद उसके दिल की आखिरी धड़कन से धमनियों में अंतिम बार रक्त बहता है और उसके बाद बहना बंद हो जाता है। इसलिए मृत देह की धमनियां खाली होती हैं। शायद चिकित्सकों ने और ज्ञान अर्जित किया होता पर तभी एलिग्जैन्ड्रिया में शरीर रचना का अध्ययन बंद कर दिया गया। डिसेक्शन को गैरकानूनी करार दिया गया और फिर हजारों बरसों तक शरीर विज्ञान के बारे में बहुत कम जानकारी हासिल हुई।

एक यूनानी चिकित्सक गेयलन (130–200) के अनुसार धमनियां (आरट्रीज) हृदय में से निकलती थीं। हृदय, धमनियों में रक्त पम्प करता जिससे वो शरीर के सभी अंगों में जाता और वहां उसका पोषण के लिए उपयोग होता।

गेयलन के अनुसार नसें (वेन्स) जिगर में निकलती थीं जहां से खून बनकर नसों द्वारा हृदय में जाता था।

पर तब तक एलिग्जैन्ड्रिया में चिकित्सक हृदय की चीर-फाड़ कर चुके थे। उन्हें हृदय को दो भागों में बांटा - बाएं वेन्ट्रीकल और दाएं वेन्ट्रीकल में। उनकी दीवारें मोटी मांसपेशियों की बनी थीं - खासकर बायीं वाली। प्रत्येक वेन्ट्रीकल के ऊपर एक पतली दीवार वाला कक्ष था - बांया एट्रीयम एक ओर और दांया एट्रीयम दूसरी ओर। हरेक एट्रीयम एक छेद द्वारा अपने नीचे वाले वेन्ट्रीकल से जुड़ा था। परन्तु एक एट्रीयम-वेन्ट्रीकल दूसरी के साथ नहीं जुड़ी थी।

ऐसा लगता था जैसे हृदय एक डबल-पम्प हो। उसका हरेक आधा हिस्सा अपनी आरट्रीज और वेन्स के साथ जुड़ा था।

परन्तु हृदय के दोहरा होने की क्या जरूरत हो सकती है? निश्चित तौर पर एक पम्प पर्याप्त होगा।

गेयलन का मानना था कि हृदय में एक ही पम्प है। उसे लगा कि दोनों वेन्ट्रीकलों के बीच की मोटी मांसपेशियों वाली दीवार में उन्हें जोड़ने वाले कुछ छेद होंगे। यह छेद इतने छोटे थे कि शायद आंख से दिखाई नहीं देते होंगे। (यह कल्पना सरासर गलत थी परन्तु गेयलन के देहांत के बाद भी लोग इसे 1400 सालों तक सच मानते रहे।)

1300 के आसपास इटली के चिकित्सकों ने फिर से मृत देहों की चीर-फाड़ शुरू की। 1316 में इतालवी डाक्टर मौनडीनूह डे लूट्जटी (1275-1326) ने शरीर-रचना से सम्बंधित पहली पुस्तक लिखी। उसमें ज्यादातर तो वही था जो गेयलन ने सिखाया था।

पर फिर 1543 में एक बेल्जियम के शरीर-शास्त्री एंड्रीयाज वेहसेलियस (1514-1564) ने खुद इस विषय का अध्ययन किया और शरीर-रचना पर कहीं बेहतर पुस्तक लिखी। तब तक छापेखाने शुरू हो चुके थे और वेहसेलियस कि पुस्तक अच्छी तरह छपी थी और उसमें सुंदर चित्र थे। इस पुस्तक को समस्त यूरोप में पढ़ा गया और इससे वैज्ञानिक मनुष्य के शरीर के बारे में आगे का शोध करने लगे।

परन्तु वेहसेलियस भी गेहलन की अवधारणाओं को - खासकर हृदय के कार्य सम्बंधी मसलों को बहुत आगे नहीं ले जा पाया।

Anatomical drawing by Vesalius, 1543
वेहसेलियस द्वारा बनाया गया शरीर-रचना का चित्र, 1543

2 परिवहण (सरक्यूलेशन)

यूरोपीय डाक्टरों को इसके बारे में पता नहीं था परन्तु गेयलेन की अवध ारणाओं में सुधार हुआ था। और इस काम को अंजाम दिया सीरिया के एक डाक्टर इब्न अल नफिस (1210-1288) ने।

1242 में उसने शल्यक्रिया सम्बंधित एक पुस्तक लिखी। गेयलेन ने एक वेन्ट्रीकल से दूसरे में छिद्रों द्वारा रक्त के बहाव की बात कही थी। नफीस ने इसका खंडन किया। नफिस के अनुसार दोनों वेन्ट्रीकल्स के बीच, मोटी मांसपेशियों की बनी एक ठोस दीवार थी और उसमें से किसी तरह का रिसना सम्भव नहीं था।

इसका मतलब क्या हृदय एक डबल-पम्प था जिसमें एक पम्प दूसरे से किसी तरह नहीं जुड़ा था?

नहीं। इब्न अल नफिस ने दायीं वेन्ट्रीकल से बायीं वेन्ट्रीकल में रक्त जाने का एक दूसरा तरीका सुझाया। उसके अनुसार हृदय के सिकुड़ने के साथ दायीं वेन्ट्रीकल का खून एक बड़ी 'पल्मनरी' आरट्री में जाता है। 'पल्मनरी' एक लैटिन शब्द है जिसका अर्थ फेफड़ा होता है। असल में 'पल्मनरी' आरट्री फेफड़े में खून ले जाने का काम करती है।
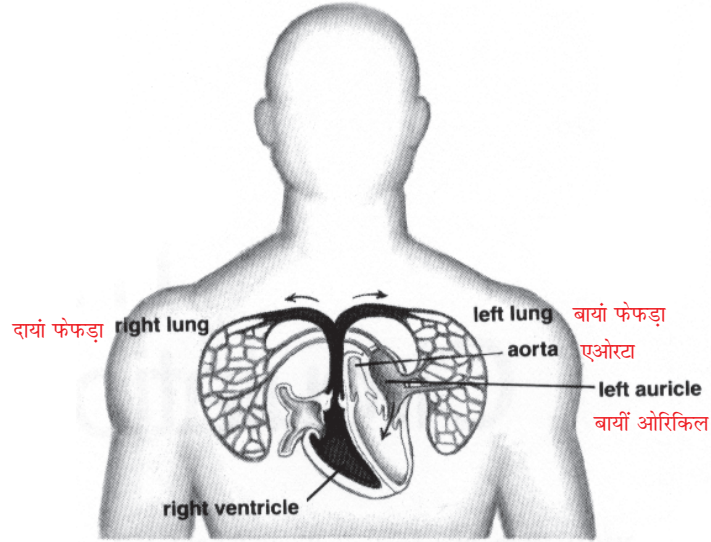
The lesser circulation
लेस्सर सरक्यूलेशन

जैस 'पल्मनरी' शिरा फेफड़े में पहुंचती है वो एक पेड़ की भांति छोटी और छोटी शाखाओं में बंटती जाती है। धीरे-धीरे यह धमनियां इतनी छोटी और महीन हो जाती हैं कि उन्हें केवल माइक्रोस्कोप से ही देखा जा सकता है। फेफड़े की महीन शिराओं में रक्त हवा इकट्ठी करता है। यह छोटी शिराएं फिर इकट्ठी होकर बड़ी हो जाती हैं और दिखाई देती हैं। ये रक्त शिराएं (वेन्स) होती हैं। धीरे-धीरे इन रक्त शिराओं की संख्या कम होती है और वे बड़ी होती हैं और अंत में इनसे एक बड़ी शिरा 'पल्मनरी' शिरा बनती है।

'पल्मनरी' शिरा में अब रक्त के साथ मिली हवा अब बाएं एट्रियम में जाती है और वहां से बाएं वेन्ट्रीकल में। जब हृदय सकुड़ता है तब बायीं वेन्ट्रीकल का रक्त जिसमें हवा मिली होती है वो एओरटा में चला जाता है। एओरटा शरीर की सबसे बड़ी धमनी होती है। उसके बाद यह रक्त शरीर के सभी अंगों में बह कर जाता है।

इससे हमें डबल-पम्प की बात समझ आएगी। हो सकता है कि रक्त जिगर (यकृत) में बनकर फिर हृदय में जाता हो और वहां से पूरे शरीर में जाता हो। पर सबसे पहले वो दाएं एट्रियम और वेन्ट्रीकल में जाता है और वहां से वो फेफड़ों में जाकर वापस लौटता है। उसके बाद में वो बाएं एट्रियम और वेन्ट्रीकल में जाकर फिर पूरे शरीर में जाता है। हृदय का दायां भाग एक विशेष पम्प का काम करता है और रक्त और हवा की सप्लाई का काम करता है।

कल्पना करें रक्त के दायीं वेन्ट्रीकल से फेफड़ों तक जाकर फिर हृदय में वापिस आने की। तब हम कह सकते हैं कि रक्त 'सरक्यूलेट' हो रहा है। 'सरक्यूलेट' एक लैटिन शब्द है जिसका अर्थ एक गोले में घूमना होता है। फेफड़े तक जाने और वापिस आने के दौरे को 'लेस्सर सरक्यूलेशन' इसलिए कहते हैं क्योंकि बायां वेन्ट्रीकल रक्त को एक लम्बी यात्रा पर भेजता है। इब्न अल नफिस ने बायीं वेन्ट्रीकल से निकले रक्त के बारे में कुछ नहीं लिखा। शायद वहां से निकला रक्त शरीर सोख लेता हो और इसलिए नए रक्त के निर्माण की जरूरत पड़ती हो।

जिस प्रकार गेयलन द्वारा सुझाए वेन्ट्रीकल्स के बीच के छिद्रों को किसी ने नहीं देखा था। उसी तरह फेफड़ों की एकदम बारीक और महीन शिराओं को भी उस समय किसी ने नहीं देखा नहीं होगा। इब्न अल नफिस के सुझाव में यही बड़ी गलती थी।

एक और दिक्कत थी। यूरोप में किसी को भी इब्न अल नफिस की पुस्तक के बारे में पता नहीं था। 1924 में यूरोप में लोगों को उसके बारे में पता चला। इसलिए उन्हें 'बहाव के छोटे पथ' को खुद ही खोजना पड़ा। यह खोज सबसे पहले एक स्पैनिश डाक्टर मिशेल सेरवीटुस (1511-1553) ने की।

सेरवीटुस का जमाना काफी उथल-पुथल वाला था। पश्चिमी यूरोप का कैथोलिक चर्च दो भाग में विभक्त हो चुका था। जो लोग उससे निकले उन्होंने खुद को प्रोटेस्टेन्ट्स कहा। इन दोनों इसाई समुदायों कैथोलिक्स और प्रोटेस्टेन्टस् के बीच भयंकर वैमनस्य था।

सेरवीटुस के धार्मिक विचारों से दोनों कैथोलिक्स और प्रोटेस्टेन्टस् समुदाय नाराज थे। 1553 में सेरवीटुस ने एक पुस्तक छापी जिसमें उन्होंने अपने विचार व्यक्त किए। उसने जानबूझ कर किताब के लेखक के रूप में अपना नाम नहीं छापा। परन्तु उसने विचारों की सार्वजनिक तौर पर इतनी चर्चा हुई थी इसलिए सब को पुस्तक के लेखक का नाम पता था।

फ्रांस के कैथोलिक्स ने सेरवीटुस को गिरफ्तार किया पर वो वहां से फरार होकर जनेवा, स्विटजरलैंड चला गया। उस समय स्विटजरलैंड में एक बहुत कठोर शासक था - जॉन काल्विन (1509-1564)। काल्विन, सेरवीटुस के धार्मिक विचारों को सुनकर इतना हैरान हुआ कि उसने सेरवीटुस को सूली पर जला देने का आदेश दिया। उसके बाद सेरवीटुस की पुस्तकों की सारी प्रतियों को इकट्टा कर उन्हें भी जला दिया गया।

भाग्यवश कुछ प्रतियां बची रहीं और 1694 में - सेरवीटुस की मृत्यु के डेढ़ सौ वर्ष बाद एक प्रति सामने आई। डाक्टरों को पढ़कर बहुत आश्चर्य हुआ कि पुस्तक में न केवल सेरवीटुस ने अपने
धार्मिक विचार प्रकट किए थे परन्तु उसने बखूबी 'बहाव के छोटे पथ' जिसमें रक्त फेफड़ों में जाकर वापिस आता है का भी उल्लेख किया था। यह खोज अब तीसरी बार हुई थी।

1559 में सेरवीटुस की मृत्यु के छह साल बाद एक इटैलियन डाक्टर रेयेल्डो कूलम्बो (1516-1559) ने भी रक्त के 'बहाव के छोटे पथ' की खोज की और उस पर एक पुस्तक लिखी।

यह पुस्तक बची रही और जिन्दा रही। बहुत से चिकित्सकों ने उसे पढ़ा और वो कूलम्बो के मत से सहमत हुए। कूलम्बो का विचार सेरवीटुस और इब्न अल नफिस के बहुत बाद सामने आया, पर कूलम्बो की किताब ही यूरोप के डाक्टरों को उपलब्ध थी। कूलम्बो के काम के आधार पर वो आगे का शोध कर पाए। इसलिए कूलम्बो को रक्त के 'बहाव के छोटे पथ' की खोज का श्रेय जाता है।

1574 में इटैलियन डाक्टर गिरोलामो फैबरिची (1537-1619) पैर की शिराओं का अध्ययन कर रहे थे। उसे उनमें छोटे-छोटे 'वाल्व' नजर आए। अगर रक्त एक दिशा में बहता तो वाल्व कक्ष की दीवार की ओर मुड़ जाते। इससे बिना किसी प्रतिरोध के रक्त उस दिशा में बहता। पर अगर रक्त दूसरी दिशा में बहता तो वाल्व खुल जाते और शिरा को बंद कर देते।
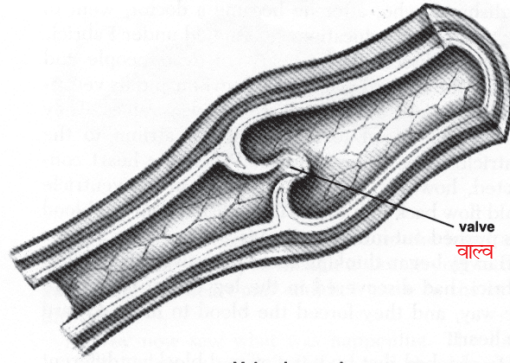
Valve in a vein
शिरा में वाल्व

इसका मतलब था कि ये एक-दिशा में काम करने वाले वाल्व थे। इससे सीधे खड़े व्यक्ति का खून बह सकता था। पर रक्त नीचे की ओर नहीं बह सकता था।

यह समझ में भी आता है। जब कोई व्यक्ति अपने पैर हिलाता है या फिर पैर की मांसपेशियों को कसता है तब वो मांसपेशियों शिराओं को दबाती हैं और उन शिराओं के अंदर रक्त को नीचे की ओर गुरुत्व के प्रभाव के विपरीत ऊपर बहने को मजबूर करती हैं। अगर कोई व्यक्ति अपने पैर की मांसपेशियों को शिथिल रखता है, तो शिराओं में अधिक रक्त तो नहीं बहता है, पर वो गुरुत्व द्वारा नीचे भी नहीं खिंचता है। वाल्व, रक्त को नीचे जाने से रोकने का काम करते हैं।

पर उसके बाद एक ब्रिटिश डाक्टर विलियम हार्वे (1578-1657) का आगमन हुआ। डाक्टरी करने के बाद वो उच्च शिक्षा के लिए इटली गए जहां वो फैबरिची के शिष्य बने।

हार्वे ने मृत व्यक्तियों के हृदयों को काटा-छांटा और एट्रियम और उसकी वेन्ट्रीकल के बीच के वाल्व का अध्ययन किया। उसने इन वाल्व्स को दो-तरफा पाया। वे बिना किसी समस्या के एट्रियम से वेन्ट्रीकल की ओर रक्त को बहने

देते। पर हृदय के सिकुड़ने पर वाल्व के कारण वेन्ट्रीकल से एट्रियम की ओर रक्त नहीं बह पाता। इसकी बजाए एक धक्के से सारा खून रक्त धमनियों में जाता।

फिर हार्वे पैर की शिराओं के वाल्व के बारे में सोचने लगे जिसकी खोज उसके शिक्षक फैबरिची ने की थी। वे वाल्व सिर्फ एक-दिशा वाले थे और वे रक्त को हृदय की ओर धकेलते थे।

उसने जानवरों की अलग-अलग शिराओं (वेन्स) को बांधकर इस बारे में परीक्षण किए। हर बार शिराएं बांधने के बाद उस स्थान पर फूलतीं जो हृदय से दूर था। ऐसा लगता जैसे रक्त हृदय की ओर बहने की कोशिश कर रहा था। और क्योंकि बांधने के कारण वो हृदय की ओर नहीं बह पाया इसलिए बांधने के स्थान के नीचे शिरा फूल गई। यह बात सभी शिराओं पर लागू होती थी।
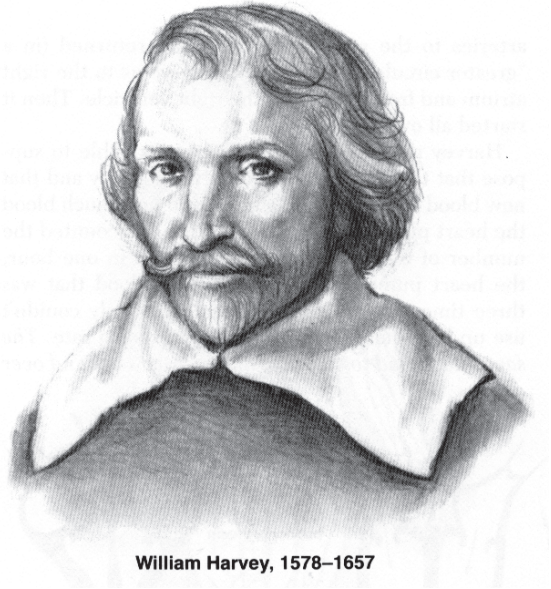
William Harvey, 1578–1657

विलियम हार्वे (1578-1657)

धमनियों (आरट्रीज) को बांधने से हृदय की ओर नस फूलती थीं। ऐसा लगता जैसे रक्त हृदय से दूर जाने की कोशिश कर रहा हो और बाधा आने की वजह ने नहीं बह पा रहा हो।

अब हार्वे को जो कुछ हो रहा था वो समझ में आया। हृदय रक्त को धमनियों (आरट्रीज) में धकेलने की कोशिश करता, और फिर खून शिराओं (वेन्स) द्वारा हृदय में वापस आता। दोनों वेन्ट्रीकल के साथ यही होता है। रक्त

का दोहरा बहाव होता है। अगर दायीं वेन्ट्रीकल से शुरू किया जाए तो रक्त धमनियों (आरट्रीज) से होकर फेफड़ों में जाता है और फिर शिराओं (वेन्स) में से होकर बाएं एट्रियम में जाकर फिर बाएं वेन्ट्रीकल में जाता है। बाएं वेन्ट्रीकल से रक्त धमनियों (आरट्रीज) में जाकर फिर शिराओं (वेन्स) में से दाएं एट्रियम से गुजरता हुआ दाएं वेन्ट्रीकल में जाता है।(यह 'बड़े बहाव का पथ' है।)। और बहाव का यह चक्र दुबारा फिर शुरू होता है।

हार्वे के अनुसार यह अवधारणा कि मनुष्य का शरीर रक्त इस्तेमाल करता है और इसलिए हमेशा नया खून बनता रहता है, गलत है। हृदय एक बार सिकुड़ने पर कितना रक्त पम्प करता है, और हृदय एक घंटे में कितनी बार सिकुड़ता है, इसको हार्वे ने मापा। उसने पाया कि एक घंटे में हृदय द्वारा पम्प किया रक्त, मनुष्य के भार का तीन-गुना होता है। इस तेज गति ने तो शरीर रक्त का उपयोग कर सकता है और न ही उसका निर्माण। इसलिए वही रक्त लगातार शरीर में घूमता है और उसी का शरीर लगातार उपयोग करता है।

How the heart pumps

हृदय पम्प कैसे करता है
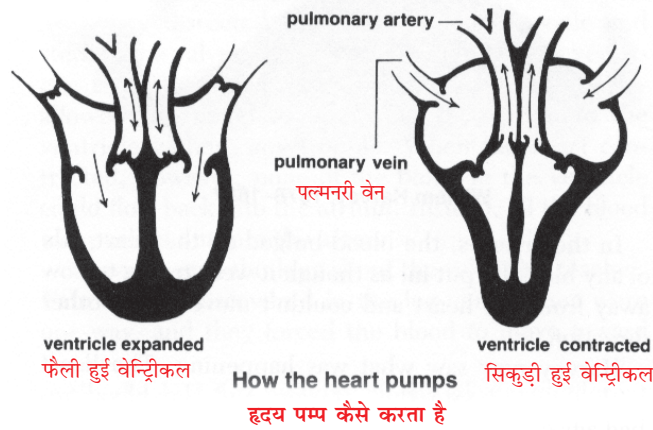
हार्वे के सामने अभी भी वही समस्या थी जिससे इब्न अल नफिस जूझ रहा था। छोटी आरट्री और वेन्स को बहुत बारीक और महीन शिराओं से जुड़ना था। पर यह महीन शिराएं दिखाई ही नहीं देती थीं। क्या वे वाकई में थीं भी?

1650 में वैज्ञानिकों ने कांच के लेन्सों को इस प्रकार जोड़ा था जिससे कि सामान्य रूप से आंख से न दिखने वाली वस्तुओं को बड़ा करके देखा जा सके। इन उपकरणों को माइक्रोस्कोप कहते थे। माइक्रोस्कोप एक यूनानी शब्द है जिसका मतलब होता है 'छोटी चीज को देखना'।
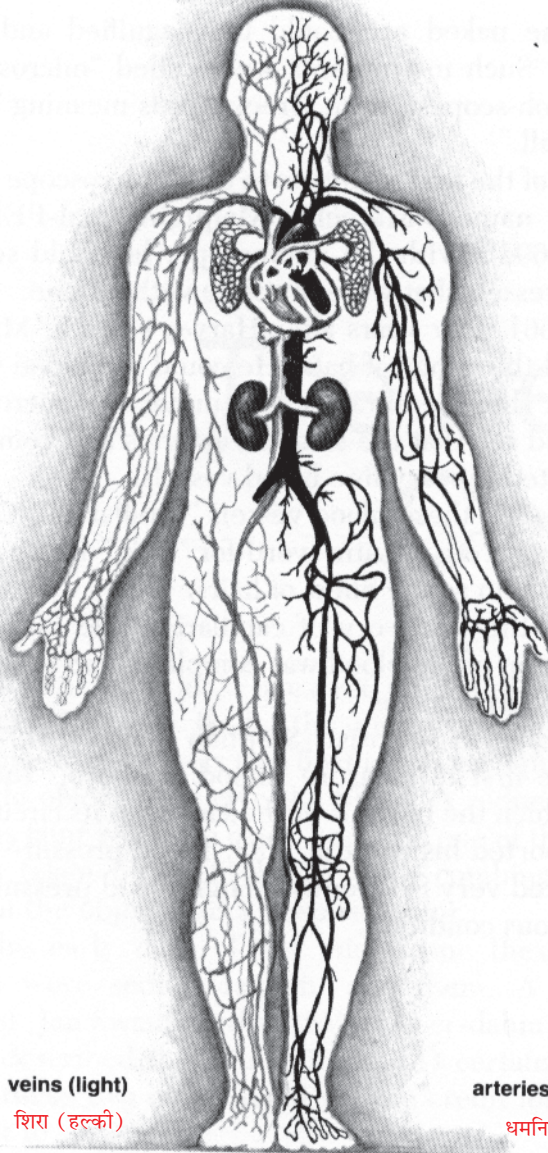
The circulatory system

सरक्यूलेटरी सिस्टम

माइक्रोस्कोप का सबसे पहले उपयोग इटैलियन वैज्ञानिक मारसिलो मैलपिजी (1628-1694) ने किया। माइक्रोस्कोप की सहायता से वो उन महीन और बारीक रक्त शिराओं को देख पाए जो अभी तक अदृश्य थीं।

1661 में हार्वे की मृत्यु के चार वर्ष बाद मैलपिजी ने चमगादड़ों के पंखों का अध्ययन किया। उसे उनके पंखों की पतली झिल्ली में रक्त शिराएं दिखाई दीं। और माइक्रोस्कोप के नीचे उसने देखा कि छोटी आरट्री और वेन्स एकदम बारीक और महीन रक्त शिराओं से जुड़ी हुई थीं।

उसने इन महीन शिराओं का नाम 'कैपिलरी' या केशिका रखा। यूनानी में 'कैपिलरी' का अर्थ होता है 'बाल जैसे' और यह शिराएं बिल्कुल बाल जैसी महीन थीं।

केशिकाओं की खोज के बाद से शरीर में रक्त के बहाव की अवधारणा स्थाई आधार पर स्थापित हुई और तब से सभी लोग उसे मान रहे हैं।

एक ब्रिटिश वैज्ञानिक स्टीफिन हेल्स (1677-1761) रक्तचाप या 'ब्लड-प्रेशर' मापने वाले पहले वैज्ञानिक थे। कितने दाब से रक्त बहता है यह उसका माप है। उन्होंने 1733 में इस अवधारणा को पेश किया। आजकल रक्तचाप का मापा जाना एक बहुत सामान्य बात है। 'उच्च रक्तचाप' होना खतरे की घंटी होता है।

3 लाल कोशिकाएं

सामान्य आंख को खून एक लाल तरल नजर आता है और उसका हर भाग देखने में एक जैसा लगता है। परन्तु माइक्रोस्कोप से देखने पर उसमें एक पारदर्शी तरल में कुछ छोटी वस्तुएं तैरती हुई नजर आती हैं। इन छोटी चीजों के कारण ही खून लाल दिखता है। तरल का रंग हल्का पीला होता है और उसमें तैर रही छोटी चीजों का रंग भी हल्का पीला होता है। परन्तु जब बहुत सी छोटी चीजें इकट्ठी होती हैं तो फिर उनका रंग लाल हो जाता है।

माइक्रोस्कोप के शुरुआती दिनों में ही इन छोटी वस्तुओं को देखा गया। मैलपिजी ने उन्हें देखा। एक डच वैज्ञानिक जैन स्वैमअरडैम (1637-1680) ने 1658 में उनका वर्णन किया। इन दोनों वैज्ञानिकों में से इसे पहले देखने का श्रेय किसे मिले यह किसी को नहीं पता।

अपने रंग के आधार पर इन छोटी चीजों को 'रेड सेल्स' बुलाया गया। अंग्रेजी में 'सेल' का मतलब होता है जीवित प्राणियों की एक बहुत छोटी इकाई - इतनी सूक्ष्म कि जिसे माइक्रोस्कोप के बिना देख पाना सम्भव न हो। 'रेड सेल्स' का एक और नाम है 'ईरिथरोसाइट्स' जिसका यूनानी में अर्थ होता है 'रेड सेल्स'।

'रेड सेल्स' को सबसे पहले डच वैज्ञानिक अंतोन फॅान लेविनहूक (1632-1723) ने अध्ययन किया। शुरुआत में उसके पास विश्व में सबसे उत्तम माइक्रोस्कोप्स थे। उसने स्पष्ट कांच को घिसकर बढ़िया क्वालिटी के लेन्स बनाए थे। उन लेन्सों से देखने पर उसे छोटी चीजें अत्यधिक बड़ी नजर आतीं और वो उनको एकदम स्पष्ट देख पाता।
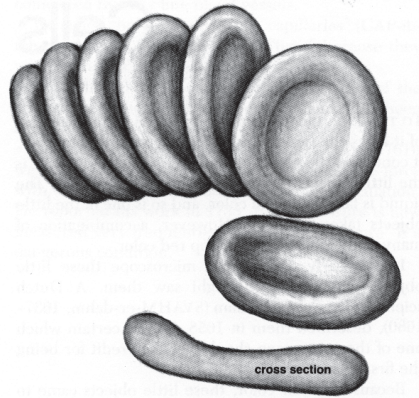
लाल कोशिकाएं Red blood cells

लेविनहूक ने 'रेड सेल्स' का वर्णन लिखा। वो सपाट चकतियों जैसे थे और उनके केंद्र में एक गड्ढा था। वो देखने में बच्चों की चूसने वाली गोलियों जैसे लगते पर उनके बीच में स्पष्ट छेद नहीं था।

लेविनहूक ने उनको नापने की कोशिश भी की। उनका आकार बहुत छोटा था - अधिकांश कोशिकाओं से भी छोटा। अगर 3400 कोशिकाओं को एक रेखा में सटाकर रखें तो उनकी लम्बाई एक-इंच की होगी। अगर उन्हें एक-के-ऊपर रखकर सजाएं तो 12000 कोशिकाओं की ऊंचाई मिलकर एक-इंच होगी।

इतना जरूर था कि वे प्रचुर मात्रा में थीं। कल्पना करें एक डिब्बे की जिसकी लम्बाई और चौड़ाई 1/25-इंच हो और ऊंचाई भी 1/25-इंच की हो। ऐसे डिब्बे को आप मुश्किल से देख पाएंगे।

अब आप इस डिब्बे को रक्त से भरें। एक बूंद रक्त ऐसे 50 डिब्बों को आसानी से भर पाएगा। ऐसे एक छोटे डिब्बे में लगभग 50 लाख लाल कोशिकाएं होंगी। 1852 में यह आंकड़ा जर्मन वैज्ञानिक कार्ल फीरूट ने सुझाया।

रक्त हमेशा लाल नहीं होता है। फेफड़ों से वापसी के बाद ही रक्त का रंग लाल होता है। फेफड़ों में रक्त हवा सोखता है। इस लाल रक्त को बायीं वेन्ट्रीकल पूरे शरीर में पम्प करती है। शरीर इस हवा का उपयोग करता है और वहां से वापिस आने वाला रक्त गहरे नीले रंग का होता है। वहां से रक्त हृदय में वापिस आता है और वहां से फेफड़ों में जाकर फिर लाल बनता है।
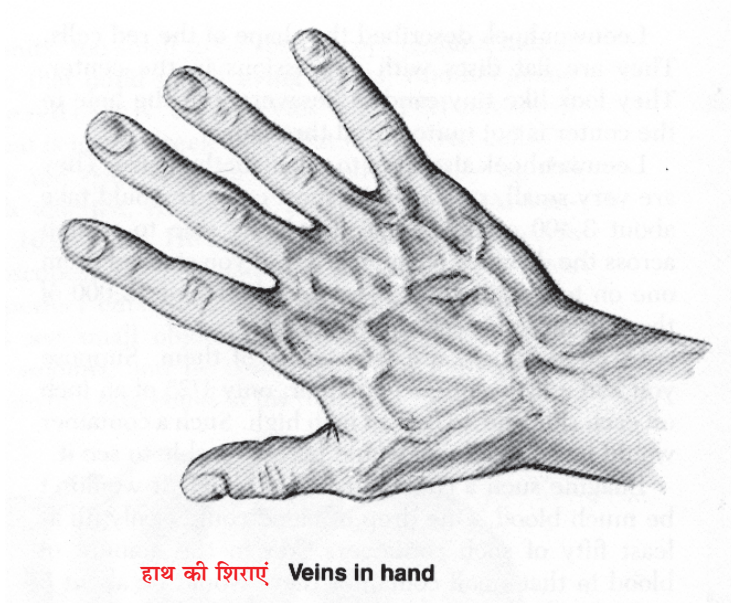
हाथ की शिराएं **Veins in hand**

इस तथ्य की 1669 में एक ब्रिटिश डाक्टर रिचर्ड लोअर (1631-1691) ने खोज की। आरट्रीज (धमनियों) में बहने वाला खून (फेफड़ों की ओर जाने वाले रक्त को छोड़कर) हमेशा लाल होता है और उसे आरटीरियल-ब्लड (खून) कहते हैं। इसके विपरीत वेन्स (शिराओं) में बहने वाले खून (फेफड़ों से आने वाले रक्त को छोड़कर) गहरे रंग का होता है और उसे 'वीनस-ब्लड' कहते हैं।

अगर आपकी त्वचा गोरे रंग की हो तो आप अपनी हथेली के निचले हिस्से को देखें। आपको वहां शिराएं दिखाई देंगी जो वीनस-रक्त को आपके हृदय तक वापिस ले जा रही होंगी। आपको त्वचा के नीचे वो नीली रेखाओं जैसी दिखेंगी। उनमें रक्त बह रहा होगा पर वो लाल रक्त नहीं होगा।

अगर आपकी त्वचा गहरे रंग की है, या फिर आप बाहर सूरज की तेज ध ूप में काफी देर बिता कर आए हैं तो फिर आपकी हथेली के उल्टे हिस्से में यह शिराएं नहीं दिखेंगी। पुराने जमाने में बहुत धनी लोग ही सूरज की धूप से खुद को बचा पाते थे। बाकी गरीब लोगों को दिन भर धूप में खेत-खलिहानों में काम करना पड़ता था। तब सिर्फ यूरोप के धनी लोग जिनकी त्वचा गोरी थी और जो धूप से बचे रहते थे ही अपनी नीली-शिराओं को देख पाते थे। इसी लिए उच्च-वर्ग के धनवान लोगों को कभी-कभी 'ब्लू-ब्लड' (नीले खून वाले) भी कहते हैं।

अगर किसी दुर्घटना में कभी नस कट गयी तो उसमें से कभी नीला खून नहीं निकलता था। कटी नस से बाहर आने वाला खून जैसे ही हवा के सम्पर्क में आता उसका रंग लाल हो जाता।

हवा में वो क्या चीज थी जिससे खून लाल बनाता था?

1774 में एक ब्रिटिश रासायनशास्त्री जोजेफ प्रीस्टले (1733-1804) ने एक नई गैस खोजी। इस गैस में आग बहुत तेजी से चमकते हुए जलती थी। अगर किसी बिना लपट वाले सुलगती हुई लकड़ी को इस गैस में लाया जाता तो वो ध धक कर जलने लगती थी।

1778 में एक फ्रेंच रासायनशास्त्री अंटोइन लौरेंट लावाजे (1743-1794) ने दिखाया कि हवा में दो अलग-अलग गैसें होती हैं। उसमें से 1/5 भाग प्रीस्टले की गैस जिसे लावाजे ने 'ऑक्सीजन' नाम दिया होता है। बाकी 4/5 हिस्सा 'नाइट्रोजन' नाम की गैस का होता है।

ऑक्सीजन, रक्त के साथ मिलकर उसके चमकीला लाल बनाती है। आरटीरियल-ब्लड (धमनियों में बहने वाला खून) ऑक्सीजनिकृत होता है।

1857 में एक जर्मन वैज्ञानिक जूलियस लोथर मेयर (1830-1895) ने दिखाया कि ऑक्सीजन आमतौर पर रक्त के तरल भाग के नहीं मिलती है।

ऑक्सीजन लाल-कोशिकाओं से मिलती है।

तब तक यह मालूम पड़ चुका था कि शरीर की कोशिकाओं में प्रोटीन नामक जटिल पदार्थ होते हैं। हरेक प्रोटीन बहुत से अणुओं से मिलकर बनता है जिन्हें परमाणु कहते हैं। और प्रोटीन का हरेक परमाणु सैकड़ों या हजारों अणुओं से मिलकर बनता है। 1851 में जर्मन वैज्ञानिक ऑटो फुकू (1828-1879) ने लाल कोशिकाओं से एक प्रोटीन हासिल किया। एक अन्य जर्मन रासायनशास्त्री अरनेस्ट फेलिक्स होपु झेयलर (1825-1895) ने इस प्रोटीन को शुद्धीकरण कर उसका अध्ययन किया।

लाल कोशिका से निकले प्रोटीन को 'हीमोग्लोबिन' कहते हैं। 'हीमो' का यूनानी में अर्थ रक्त होता है और 'ग्लोबिन' एक प्रोटीन का नाम होता है। इसलिए 'हीमोग्लोबिन' एक 'रक्त-प्रोटीन' है।

जब रक्त फेफड़ों में से गुजरता है तब हवा में मौजूद ऑक्सीजन गहरे रंग के होमोग्लोबिन से मिलकर चमकीले लाल रंग की ऑक्सी-होमोग्लोबिन बनाती है। इसमें ऑक्सीजन ढीले तरह से पकड़ी हुई होती है जिससे कि जब रक्त केशिकाओं में से शरीर में घूमे तब कोशिकाएं ऑक्सी-होमोग्लोबिन में से ऑक्सीजन को आसानी से ग्रहण कर सकें। अब यह ऑक्सी-होमोग्लोबिन दुबारा होमोग्लोबिन बन जाता है।

कोशिकाएं भोजन द्वारा मिले परमाणुओं को ऑक्सीजन के साथ मिलाती हैं। इससे ऊर्जा निर्माण होती है और शरीर चलने फिरने का काम कर पाता है।

1747 में एक इटैलियन रासायनशास्त्री विंसिन्जो एंटोनियो मेनजेनी (1704-1759) ने रक्त में अल्प मात्रा में लोहा पाया। उसे लगा कि लाल-कोशिकाओं में लोहा होता है। बाद में यह मालूम पड़ा कि होमोग्लोबिन के हरेक परमाणु में लोहे के चार अणु होते हैं। असल में इन लोहे के अणुओं के साथ ही ऑक्सीजन के अणु जाकर जुड़ते हैं।

शरीर में से खून निकलने से व्यक्ति में लोहे की कमी आती है। अगर उसके भोजन में लोहे की पर्याप्त मात्रा नहीं हुई तो उसके शरीर में लोहे की कमी रहती है और वो रक्तक्षीणता (एनीमिया) का शिकार होता है। उसका खून पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन इकट्ठी नहीं कर पाता है और इससे उसके शरीर में ऊर्जा की कमी बनी रहती है। एनीमिया से पीड़ित व्यक्ति खुद को हमेशा थका महसूस करता है।

अगर किसी व्यक्ति की चोट में से बहुत खून बहा हो और उससे शरीर में खून की कमी हुई हो? क्या किसी जानवर का खून उस व्यक्ति के शरीर में इंजेक्शन से चढ़ाया जा सकता है?

1600 में इस पर प्रयोग हुआ और एक जानवर में दूसरे का रक्त चढ़ाया गया। 1666 में रिचर्ड लोअर ने पहली बार किसी जानवर का खून एक इंसान को चढ़ाया।

कभी-कभी बाहरी खून काम करता कभी नहीं। कभी-कभी बाहरी खून चढ़ाए जाने के बाद लोगों की मृत्यु हो जाती। इसलिए डाक्टर इस तकनीक को अधिक उपयोग में नहीं लाते थे।

एक ब्रिटिश डाक्टर जेम्स ब्लनडल (1790-1877) ने अंत में यह सुनिश्चित किया कि एक जानवर का रक्त उसी प्रजाति के जानवर के लिए सहायक होगा। इसलिए अगर किसी इंसान को खून की जरूरत पड़े तो वो खून किसी दूसरे इंसान का ही हो। 1818 से उसने जरूरतमंद मरीजों में अन्य स्वस्थ्य लोगों का खून चढ़ाना शुरू किया।

ऐसा चढ़ाया खून कभी काम करता और कभी नहीं। जब वो काम नहीं करता तो ऐसा लगा जैसे चढ़ाए गए खून की लाल-कोशिकाएं मरीज की रक्त शिराओं में कसकर बंध या 'एग्लूटीनेट' हो गई हों। अगर लाल-कोशिकाओं के अलग ने होने वाले गुच्छे चढ़ाए गए तो उनसे मरीज की हालत पहले से भी और खराब होने का अंदेशा था। उससे मरीज मर भी सकता था।

1900 में आस्ट्रियन डाक्टर कार्ल लैंडस्टाइनर (1868-1943) ने इस गुत्थी को सुलझाया। अपनी खोज में उन्हें चार अलग-अलग प्रकार की लाल-कोशिकाएं मिलीं। कुछ लोगों की लाल-कोशिकाएं में 'ए' प्रकार का रासायन में जुड़ा होता और कुछ में 'बी' प्रकार का रासायन। इसीलिए हम 'ए' और 'बी' प्रकार के खून की बात करते हैं। जिन लोगों में दोनों रासायन थे उन्हें 'ए-बी' श्रेणी में रखा जाता। जिन लोगों में कोई भी रासायन नहीं था उन्हें एक अलग श्रेणी 'ओ' में रखा जाता।

अगर एक प्रकार के खून को अलग प्रकार के खून वाले मरीज को चढ़ाया जाता तो वो अक्सर 'एग्लूटीनेट' होता था। इसलिए जरूरी था कि मरीज को उसके खून के प्रकार वाला ही खून चढ़ाया जाए। किसी आपात स्थिति में 'ए-बी' खून वाला मरीज 'ए' और 'बी' दोनों टाइप के खून को स्वीकार करेगा। परन्तु 'ए-बी' खून मिलना बहुत दुर्लभ होता है। पच्चीस में से केवल एक अमरीका का खून ही 'ए-बी' टाइप का होता है।

'ए' टाइप और 'बी' टाइप वाले मरीज सहजता से 'ओ' टाइप का रक्त स्वीकार कर सकते हैं। इसलिए रक्तदान में जब खून इकट्ठा किया जाता है तो 'ओ' टाइप सबसे उपयोगी होता है। 'ओ' टाइप खून को किसी मरीज को बिना किसी खतरे के दिया जा सकता है। परन्तु 'ओ' टाइप के मरीज केवल 'ओ'

टाइप के खून को ही स्वीकारते हैं। लगभग आधे अमरीकी 'ओ' टाइप के हैं। 1930 में लैंडस्टाइनर को खून की अलग श्रेणियां खोजने के लिए नोबेल पुरुस्कार मिला।

कुछ लोग लाल-कोशिकाओं को उनके नाम से बुलाना पसंद नहीं करते हैं।

1831 में एक स्कॉटिश वैज्ञानिक रॉबर्ट ब्राउन (1773-1858) ने कोशिकाओं के अंदर एक छोटा ढांचा खोजा। उसने इस ढांचे को नाभि या न्यूक्लियस नाम दिया। बाद में पता चला कि हरेक कोशिका के अंदर एक न्यूक्लियस होता है। और सबसे बड़ी बात यह है कि कोशिका का सबसे महत्वपूर्ण भाग उसका न्यूक्लियस होता है। न्यूक्लियस के अंदर एक पदार्थ होता है जिससे कि वो एक-कोशिका को दो-कोशिकाओं में बांट सकता है। न्यूक्लियस के बिना कोशिकाएं अपनी संख्या में वृद्धि नहीं कर सकती हैं।

इंसानों (और कई अन्य जानवरों) की लाल-कोशिकाओं में न्यूक्लियस नहीं होता है और इसलिए वे सच्ची कोशिकाएं नहीं होती है। इस वजह से उन्हें लाल-कणिका (कौरपुसल) बुलाया जाता है।

लाल-कोशिकाएं या लाल-कणिकाएं (आप उन्हें जो भी बुलाना चाहें) न्यूक्लियस न होने के कारण बहुत समय तक जिन्दा नहीं रहती हैं। फिर भी वो बहुत श्रम करती हैं - शरीर में इधर-उधर घूम कर लगातार ऑक्सीजन इकट्ठा करके उसे बार-बार शरीर के विभिन्न अंगों को देती हैं। 125 दिनों के बाद वो टूटना शुरू होती हैं। वो शरीर के एक अंग - तिल्ली (स्पलीन) में इकट्ठी होती हैं जहां शरीर के बाकी अपशिष्ट के साथ उनकी भी सफाई होती है।
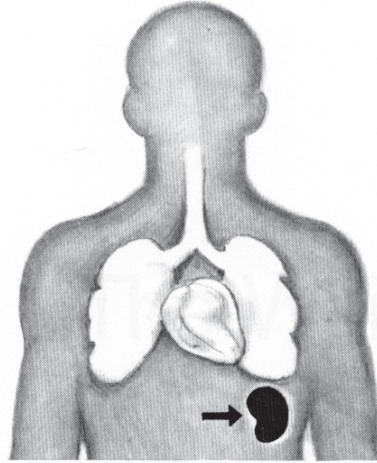
Location of spleen

स्पलीन की स्थिति

शरीर के अंदर प्रत्येक सेकण्ड 20 लाख लाल-कोशिकाएं टूटती हैं। क्योंकि शरीर में इतनी अधिक लाल-कोशिकाएं हैं इसलिए यह 20 लाख अधिक मायने नहीं रखती हैं। साथ-साथ अस्थि-मज्जा (बोन मैरो) में लगातार नई लाल-कोशिकाएं को निर्माण भी जारी रहता है - लगभग उसी गति से जिस रफ्तार से वो खत्म हो रही हैं। नई लाल-कोशिकाएं उन पालक कोशिकाएं से पैदा होती हैं जिनमें न्यूक्लियस होता है।

4 सफेद कोशिकाएं और प्लेटलेट्स

वैसे रक्त प्रवाह में सबसे अधिक मात्रा में मिलने वाली लाल-कोशिकाएं होती हैं, परन्तु उनके साथ रक्त में अन्य चीजें भी तैरती हैं।

1850 में एक फ्रेंच डाक्टर जोजफ कासीमीर दाहवान (1812-1882) को खून में कुछ ऐसी कोशिकाएं दिखाई दीं जो सामान्य लाल-कोशिकाएं से बहुत बड़ी थीं। जिन कोशिकाओं को दाहवान ने देखा उनकी गति बहुत कुछ 'अमीबा' के चलने-फिरने से मिलती-जुलती थी। अमीबा बहुतायत में पाए जाने वाला एक-कोशिकीय प्राणी होता है जिसे आसानी से माइक्रोस्कोप द्वारा तालाब के पानी में देखा जा सकता है। अमीबा जिस दिशा में आगे बढ़ना चाहता है वो उस ओर अपने शरीर को तेजी से फुलाता है। फिर कोशिका का तरल उस फूले हुए भाग में घुसता है। इस बीच वहां एक और हिस्सा फूलता है और इस प्रकार यह सिलसिला जारी रहता है। इसी प्रकार रक्त में पीले रंग की कोशिकाएं तैरती हैं।

1869 में दाहवान ने दिखाया कि यह कोशिकाएं रक्त में मौजूद बाहरी पदार्थों (फारेन-बॉडी) को चारों ओर से घेरकर उसे सोख लेती थीं।

लाल-कोशिकाओं से भिन्न इन कोशिकाओं को अक्सर सफेद-कोशिका (व्हाइट-सेल्स) बुलाया जाता है। सफेद-कोशिकाओं में हीमोग्लोबिन नहीं होता है और न ही उनमें किसी प्रकार का रंग होता है। इसीलिए उनका रंग थोड़ा पीला होता है। वो लाल-कोशिकाओं से भिन्न होती हैं क्योंकि वे सम्पूर्ण होती हैं। हर सफेद-कोशिका में एक न्यूक्लियस होता है जो काफी बड़ा होता है। 1855 में वैज्ञानिक उन्हें 'ल्यूकोसाइट्स' बुलाने लगे। 'ल्यूकोसाइट्स' एक यूनानी शब्द है जिसका मतलब होता है सफेद-कोशिका।

सफेद-कोशिकाओं की संख्या लाल-कोशिकाओं की तुलना में बहुत कम होती है। 650 लाल-कोशिकाओं पर सिर्फ एक सफेद-कोशिका होती है। इसीलिए तो सफेद-कोशिका की खोज इतनी देर बाद हुई। 650 लाल-कोशिकाओं पर

सिर्फ एक सफेद-कोशिका होने के बावजूद रक्त में कुल मिलाकर करोड़ों सफेद-कोशिकाएं होती हैं।

1860 के बाद से रासायनशास्त्री तरह-तरह की नए कृत्रिम रंग (डाइज) बनाने लगे। एक जर्मन डाक्टर पॉल एहरलिक (1854-1915) की इन कृत्रिम रंगों को इस्तेमाल करने में विशेष रुचि थी। उन्हें लगता था कि यह कृत्रिम रंग कोशिकाओं के अंदर के पदार्थ द्वारा सोखे जाएंगे और उससे यह अदृश्य पदार्थ दिखने लगेंगे। विभिन्न कृत्रिम रंग कोशिका के अंदर अलग-अलग पदार्थों से प्रतिक्रिया करेंगे और शायद उससे कोशिका के अंदर के छोटे-छोटे ढांचों का अच्छी तरह अध्ययन करना सम्भव होगा। (रंगों के बिना कोशिकाओं के अंदर कुछ भी देखना मुश्किल होता है। कोशिका के अंदर सभी ढांचे पारदर्शी होते हैं और वे एक-दूसरे की परछांई नजर आते हैं)।

Blood cells
रक्त कोशिका
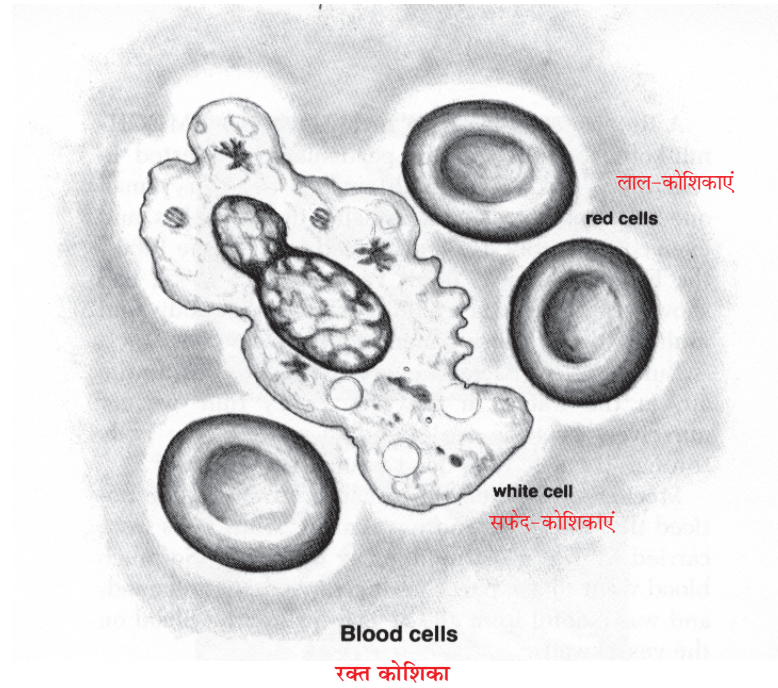
एहरलिक ने विभिन्न कृत्रिम रंगों का उपयोग अनेकों कोशिकाओं पर किया। 1875 में उसने कृत्रिम रंगों का प्रयोग सफेद-कोशिकाओं पर किया और पाया कि सभी सफेद-कोशिकाएं की रंगों पर समान प्रतिक्रिया नहीं होती। वो सफेद-कोशिकाओं को अलग-अलग समूहों में बांटने में सफल हुए। आजकल

हम सफेद-कोशिकाओं के पांच समूहों को अच्छी तरह जानते हैं और सामान्य परिस्थितियों में उनका एक-दूसरे की तुलना में अनुपात स्थिर रहता है। अगर उनमें से किसी एक का भी अनुपात गड़बड़ाता है तो उससे डाक्टरों को कोई बीमारी होने की चेतावनी मिलती है।

कभी-कभी अस्थि-मज्जा (बोन मैरो) में जरूरत से ज्यादा सफेद-कोशिकाओं का निर्माण होने लगता है। उससे रक्त में सफेद-कोशिकाओं की मात्रा सामान्य से 150-गुनी ज्यादा हो जाती है। रक्त में बाकी कोशिकाओं की भीड़ होती है और उसके कारण रक्त सामान्य रूप से कार्य नहीं करता है। इस स्थिति को 'ल्यूकीमिया' कहते हैं और यह एक बहुत गम्भीर बीमारी है।

रूसी वैज्ञानिक इलया इलयिच मेचनिकौफ (1845-1916) की 'बैक्ट्रीरिया' में गहरी रुचि थी। 'बैक्ट्रीरिया' एक-कोशिकीय जीव होते हैं। उनका आकार अमीबा से कहीं छोटा होता है और वो लाल-कोशिकाओं से भी बहुत छोटे होते हैं। 1860 में फ्रेंच रासायनशास्त्री लुई पाश्चर (1822-1895) ने दिखाया था कि 'बैक्ट्रीरिया' शरीर में घुसकर अपनी संख्या को बढ़ाते हैं जिससे तमाम आम बीमारियां फैलती हैं।

पर यह 'बैक्ट्रीरिया' हमारे आसपास चारों तरफ होते हैं - हवा में, पानी और मिट्टी में। जब कभी हमारे शरीर में कोई कट (चोट) लगती है और 'बैक्ट्रीरिया' उसे कटे भाग में से शरीर में जरूर प्रवेश करते हैं। फिर बीमारियों से हमारी मृत्यु क्यों नहीं होती?

मेचनिकौफ ने इस समस्या का गम्भीरता से अध्ययन किया। उसने पाया कि शरीर जहां भी कटता है वहां रक्त बहुत अधिक संख्या में सफेद-कोशिकाएं पहुंचाता है। वहां पर इतना खून पहुंचता है कि वो हिस्सा लाल होकर फूल जाता है। और रक्त के दबाव के कारण वहां दर्द होने लगता है।

कटे स्थान पर पहुंचते ही सफेद-कोशिकाएं शरीर में संक्रमण (इंफैक्शन) पैदा करने वाले बैक्ट्रीरिया पर आक्रमण करतीं। अक्सर सफेद-कोशिकाएं बैक्ट्रीरिया को नष्ट कर बीमारी को फैलने से रोकतीं हैं।

इसलिए शरीर में मौजूद सफेद-कोशिकाएं किसी संक्रमण (इंफैक्शन) के खिलाफ पहली सुरक्षा प्रदान करती हैं। शरीर में जहां कहीं भी बैक्ट्रीरिया ने प्रवेश किया हो वहां सफेद-कोशिकाएं तुरन्त जाकर उसके खात्मे का काम करती हैं। कटे स्थान पर वो तुरन्त पहुंचें इसलिए रक्त में हमेशा सफेद-कोशिकाएं मौजूद रहती हैं।

मेचनिकौफ ने बैक्ट्रीरिया खाने वाली सफेद-कोशिकाओं को 'फैगोसाइट्स' नाम दिया। यूनानी में 'फैगोसाइट्स' का मतलब होता है कोशिका खाने वाला।

साथ-साथ सफेद-कोशिकाएं शरीर को उसके बेकार हिस्सों से भी छुटकारा दिलाती हैं। उदाहरण के लिए कुछ सफेद-कोशिकाएं उन बूढ़े और टूटने वाली लाल-कोशिकाओं को सोख लेती हैं।
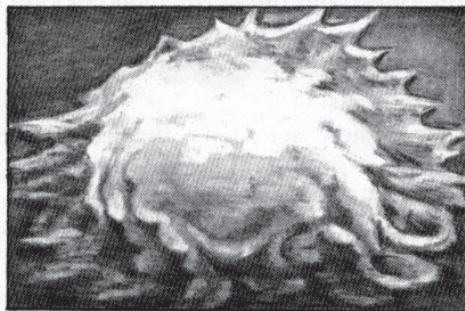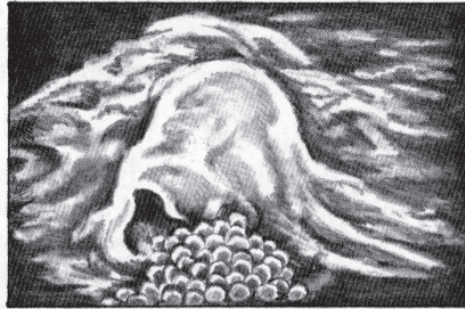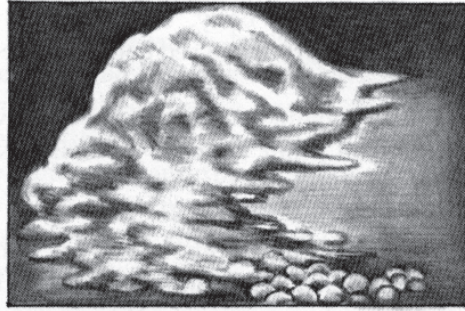
White cells destroying bacteria by engulfing them

बैक्टीरिया को चारों ओर से घेरकर सफेद-कोशिकाएं उन्हें नष्ट करती हैं।

एहरलिक और मेचनिकौफ को सफेद-कोशिकाओं पर किए शोध और आरोग्य के अन्य क्षेत्रों में काम करने के लिए 1908 में नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया।

जब किसी गुब्बारे या कार के टायर में पंचर होता है तो उसमें से सारी हवा बाहर निकल जाती है। जब गर्म पानी की रबर की बोतल में पंचर होता है तो उसमें से सारी पानी बह जाता है। पर जब शरीर का कोई हिस्सा कटता है तो उसमें से भी रक्त बाहर निकलता है परन्तु थोड़ी देर बाद रक्त का बहना बंद हो जाता है। अगर शरीर बहुत बुरी तरह से जख्मी न हुआ हो तो कुछ देर बाद खून बहना बंद हो जाता है और वहां एक थक्का या 'क्लाट' बन जाता है।

यह क्लाट इस प्रकार बनता है...

रक्त में फिब्रोजिन नाम का प्रोटीन घुला होता है। जब शरीर कटने के बाद खून हवा के सम्पर्क में आता है तो फिब्रोजिन के ढांचे में कुछ बदल होती है और वो फिब्रोजिन से फिब्रिन में बदल जाता है। यह फिब्रिन घोल में नहीं रहता और लम्बे धागों के रूप में बाहर आता है जो लाल-कोशिकाओं को फंसाता है। इससे जख्म के बाहर एक सूखी पपड़ी बनती है और उससे त्वचा के ठीक होने तक खून निकलता बंद हो जाता है।

'क्लाटिंग' का अध्ययन करते समय वैज्ञानिकों ने एक बात पर अचरज हुआ - जब शरीर के कटे हिस्से से रक्त बहता है तभी क्लाटिंग क्यों होता है? जब रक्त शिराओं में खून बहता है उस समय क्लाटिंग क्यों नहीं होता है?

(वास्तव में ऐसा भी कभी-कभी होता है, पर बहुत बिरले ही। कभी रक्त की धारा में एक थक्का बन जाता है और वो किसी महीन रक्त शिरा में फंस कर उसमें से खून के बहाव को रोकता है। इससे दिल का दौरा या घातक स्ट्रोक आ सकता है जो जानलेवा हो सकता है। वैसी क्लाटिंग की प्रक्रिया काफी बढ़िया काम करती है और बहुत कम गड़बड़ाती है। इसलिए लोगों को खासकर युवाओं को उसकी ज्यादा फिक्र नहीं करनी चाहिए क्योंकि उनके शरीर की मशीनरी तब नई होती है।)

क्लाटिंग के सम्बंध में हमें और तब पता चला जब 1842 में फ्रेंच वैज्ञानिक एल्फर्ड डोहने (1801-1878) ने रक्तधारा में एक अन्य प्रकार के वस्तु के तैरने का उल्लेख किया।

Cells and Platelets in the blood
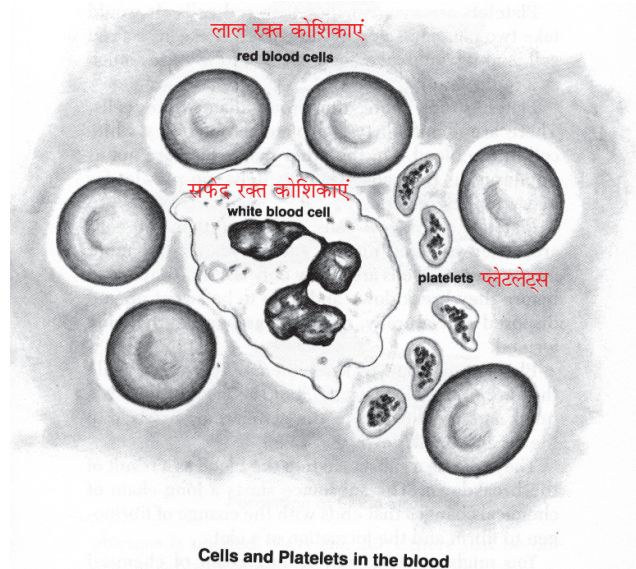
रक्त में कोशिकाएं और प्लेटलेट्स

1882 में इटालवी डाक्टर गूयलियो सिजैर बिट्ससोटेसरो ने रक्त में सामान्य रूप से पाए जाने वाली एक अन्य चीज का अध्ययन किया। इसका क्लाटिंग के साथ कुछ सम्बंध था। उसने इन चीजों को 'प्लेटलेट्स' का नाम दिया क्योंकि उनका आकार छोटी तश्तरियों या प्लेट्स से मिलता-जुलता था। (वास्तव में वो दो मुंह-जुड़ी प्लेट्स जैसे दिखती थीं)। उनका नाम 'थ्रौम्बोसाइट्स' था जिसका यूनानी में मतलब होता है थक्के बनाने वाली कोशिकाएं।

दरअसल प्लेटलेट्स सामान्य लाल-कोशिकाओं से भी छोटी होती हैं। दो प्लेटलेट्स को सटाकर रखने से उनका व्यास एक लाल-कोशिका के बराबर होगा। और आठ प्लेटलेट्स का मिलकर भार एक लाल-कोशिका जितना होगा।

सफेद-कोशिकाओं की तुलना में प्लेटलेट्स की संख्या कहीं अधिक होती है। प्लेटलेट्स की कोई नाभि नहीं होती और वे लाल-कोशिकाओं से भी ज्यादा नाजुक होती हैं। वे केवल नौ दिनों तक जीवित रहती हैं और उसके बाद में उनका क्षय होता है और फिर उन्हें ठिकाने लगाना होता है। पर साथ-साथ नई प्लेटलेट्स का निर्माण लगातार जारी रहता है।

जब तक प्लेटलेट्स रक्तधारा में बहती रहती हैं तब तक वो अच्छी हालत में रहती हैं। परन्तु जैसे ही शरीर कटता है और उसमें से खून बहना शुरू होता है उसी वक्त प्लेटलेट्स हवा के सम्पर्क में आती हैं और टूटने लगती हैं।

टूटती प्लेटलेट्स रक्तधारा में एक नया पदार्थ घोलती हैं। इस पदार्थ से कई रासायनिक प्रक्रियाएं शुरू होती हैं जिनसे अंत में फाइब्रोजिन बदलकर फाइब्रिन बनता और क्लाट पैदा करता है।

आप अचरज कर रहे होंगे कि इसके लिए एक लम्बी रासायनिक प्रक्रियाएं की क्या जरूरत? सिर्फ फाइब्रोजिन बदलकर फाइब्रिन और फिर क्लाट क्यों नहीं बनता?

वास्तव में क्लाट का बनना एक बहुत नाजुक काम है। रक्त शिराओं में क्लाट नहीं बनने चाहिए। प्लेटलेट्स को इधर-उधर बहने के दौरान बहुत ध क्का-मुक्की का सामना करना पड़ता है और धमनियों की दीवारों एवं लाल-कोशिकाओं से टकराते वक्त उनके टूटने का अंदेशा रहता है। इसलिए शरीर को यह सुनिश्चित करना पड़ता है कि यह बहुत से परिवर्तन शिराओं और ध मनियों के अंदर नहीं हों। कहीं ऐसा न हो कि रक्त बहुत जल्द क्लाट होने लगे।

दूसरी और क्लाट बनने की पूरी प्रक्रिया काफी जटिल होती है। कुछ लोगों में क्लाटिंग की समस्त प्रक्रिया को पूरी करने के लिए पर्याप्त रासायन नहीं होते। तब उनके खून ने थक्के नहीं बनते और क्लाटिंग अगर होती है तो बहुत मुश्किल से होती है। उनके शरीर में लगा छोटे से घाव में से भी लगातार खून रिसता रहेगा और यह इससे उनकी मृत्यु होने की सम्भावना भी बनी रहेगी।

इस स्थिति को 'हेमोफीलिया' कहते हैं।
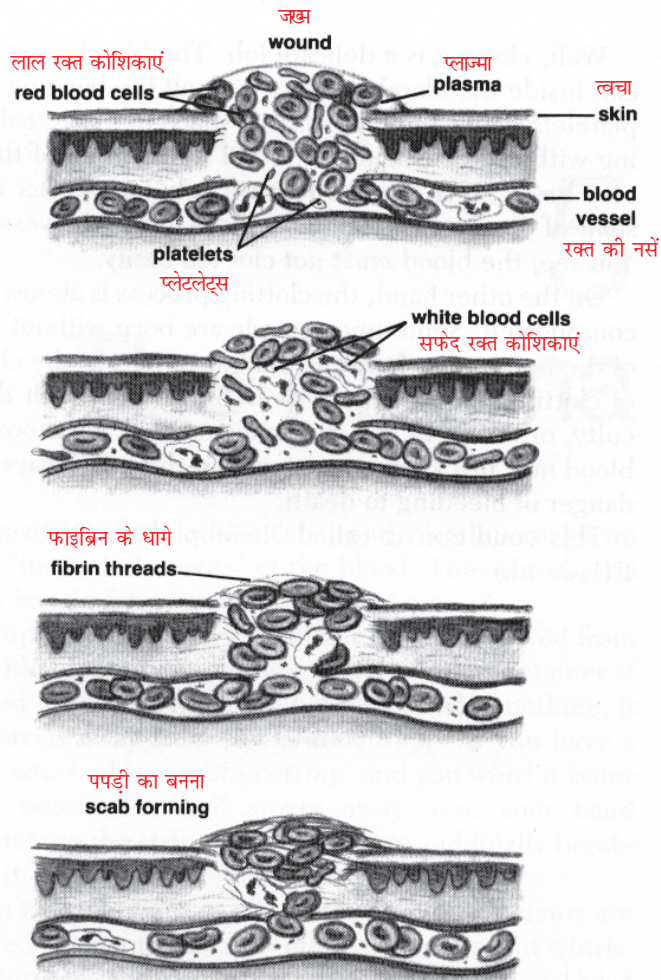
Formation of blood clot
रक्त के थक्के बनना

5 प्लाज्मा

रक्त के अंदर सफेद-कोशिकाओं, लाल-कोशिकाओं और प्लेटलेट्स के सुनिश्चित आकार होते हैं। इनका रक्त के 'आकार वाले तत्व' कहते हैं।

रक्त के इन सभी आकार वाले तत्वों को अलग किया जा सकता है। इसके लिए बहुत तेज गति से रक्त के बर्तन को गोल-गोल घुमाना होता है। जब किसी चीज को तेजी से गोल घुमाया जाता है तो उसकी प्रवृति केंद्र से बाहर की ओर जाने की होती है। मान लीजिए आपके हाथ में एक गेंद है जो रबर की डोर से बंधी है और आप उसे तेजी से गोल-गोल घुमा रहे हैं। धीरे-धीरे गेंद आपके हाथ से दूर जाएगी और इससे रबर की डोर खिंचेगी और अंत में टूट जाएगी।

जैसे-जैस रक्त का बर्तन तेजी से घूमेगा वैसे-वैसे रक्त के 'आकार वाले तत्व' बर्तन के पेंदे की ओर खिंच कर जाएंगे। अंत में 'आकार वाले तत्व' नीचे तली में बैठ जाएंगे और आप ऊपर वाले पानी जैसे तरल को निथार कर निकाल सकते हैं।

'आकार वाले तत्व' रक्त का लगभग 45 प्रतिशत हिस्सा होते हैं। और पानी वाला तरल लगभग 55 प्रतिशत भाग होता है। पानी जैसे तरल को 'प्लाज्मा' कहते हैं। 'प्लाज्मा' एक यूनानी शब्द है जिसका मतलब होता है आकार विहीन होना।

प्लाज्मा के कारण ही रक्त तरल जैसा बर्ताव करता है। अगर रक्त में केवल 'आकार वाले तत्व' होते तो हृदय उन्हें इधर-उधर बहा कर नहीं ले जा पाता। दरअसल प्लाज्मा बहता है और वो अपने साथ आकार वाले तत्वों को बहाकर ले जाता है। प्लाज्मा के ही जरिए लाल-कोशिकाएं फेफड़ों में ऑक्सीजन लेने के लिए और फिर बाद में समस्त शरीर को ऑक्सीजन सप्लाई करने के लिए जाती हैं। प्लाज्मा जहां भी शरीर में बैक्टीरिया से लड़ने की जरूरत होती है वहां प्लेटलेट्स को लेकर जाता है। प्लाज्मा के ही जरिए प्लेटलेट्स शरीर में उन सभी स्थानों पर पहुंचती हैं जहां खून रोकने की जरूरत होती है।

इस सबके साथ-साथ प्लाज्मा शरीर के अन्य अंगों की भी सहायता करता है। उदाहरण के लिए जिगर (यकृत) में तमाम रासायनिक प्रक्रियाओं के होने के कारण वहां बहुत अधिक ऊष्मा उत्पन्न होती है। अगर यह गर्मी जिगर में ही बनी रहेगी तो उससे अंततः जिगर की सभी कोशिकाओं की मृत्यु हो जाएगी। इसी प्रकार त्वचा की कोशिकाएं बाहर हवा में अपनी ऊष्मा को लगातार फेंकती रहती हैं। अगर वे लगातार ऐसा करती रहीं तो वे अंततः एकदम ठंडी पड़ जाएंगी और मर जाएंगी।

प्लाज्मा जिगर की गर्मी को सोखती है और उससे जिगर ठंडा रहता है। वही गर्मी प्लाज्मा त्वचा को ऊष्मा प्रदान कर उसे गर्म रखती है। इस प्रकार रक्त की प्लाज्मा शरीर के तापमान को एक आरामदायी स्तर पर संतुलित करती है। और जब तक हम स्वस्थ्य रहते हैं यह तापमान लगभग स्थिर रहता है।

जब बाहर बहुत गर्मी होती है तो त्वचा की छोटी रक्त शिराएं थोड़ा फैलती हैं जिससे कि उनमें कुछ अतिरिक्त खून समा सके। और त्वचा तक अतिरिक्त ऊष्मा लाई जाती है जिससे कि हम ठंडक महसूस कर सकें। ठंड के मौसम में त्वचा की छोटी रक्त शिराएं थोड़ा सिकुड़ती हैं जिससे उनमें खून की मात्रा कुछ कम हो जाती है और तब शरीर से कम ऊष्मा बाहर निकलती है। तभी तो गर्मियों के मौसम में हमें बहुत पसीना आता है और जाड़ों में हमारी त्वचा कुछ नीली पड़ जाती है।
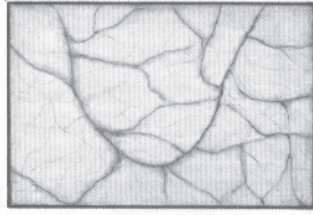
blood vessels in skin constricted
त्वचा की सिकुड़ी हुई रक्त शिराएं
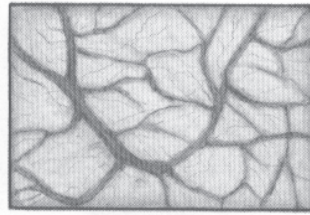
blood vessels dilated
त्वचा की फैली हुई रक्त शिराएं

Temperature control
तापमान नियंत्रण

अगर प्लाज्मा में सिर्फ पानी होता तो भी वो ऊष्मा को इधर से उधर ले जाने का काम करता। पर वास्तव में प्लाज्मा में केवल 92 प्रतिशत ही पानी होता है। बाकी 8 प्रतिशत बाहर के विभिन्न पदार्थ होते हैं जो उसमें घुले होते हैं। यह घुले पदार्थ भी शरीर का संतुलन बनाए रखने में महत्वपूर्ण रोल निभाते हैं।

उदाहरण के लिए कुछ रासायनिक परिवर्तनों से शरीर में या तो 'अम्ल' बनने लगता है या फिर 'क्षार'। कोशिकाओं के परिवेश में ज्यादा अम्ल या क्षार होने से उनकी मृत्यु का डर हो सकता है। कोशिकाएं एक उदासीन परिवेश में ही सबसे अधिक स्वस्थ्य रहती हैं।

प्लाज्मा में ऐसे रासायन होते हैं जो अम्ल या क्षार से प्रतिक्रिया करते हैं। इससे कोशिकाओं का परिवेश उदासीन बना रहता है।

प्लाज्मा के रासायन सूक्ष्म रक्त शिराओं से पानी और अन्य पदार्थों का अंदर या बाहर जाना भी नियंत्रित करते हैं। यह रासायन सुनिश्चित करते हैं कि सही पदार्थ ही बाहर-अंदर जाएं और बहुत ज्यादा मात्रा में पानी अंदर-बाहर नहीं जाए।
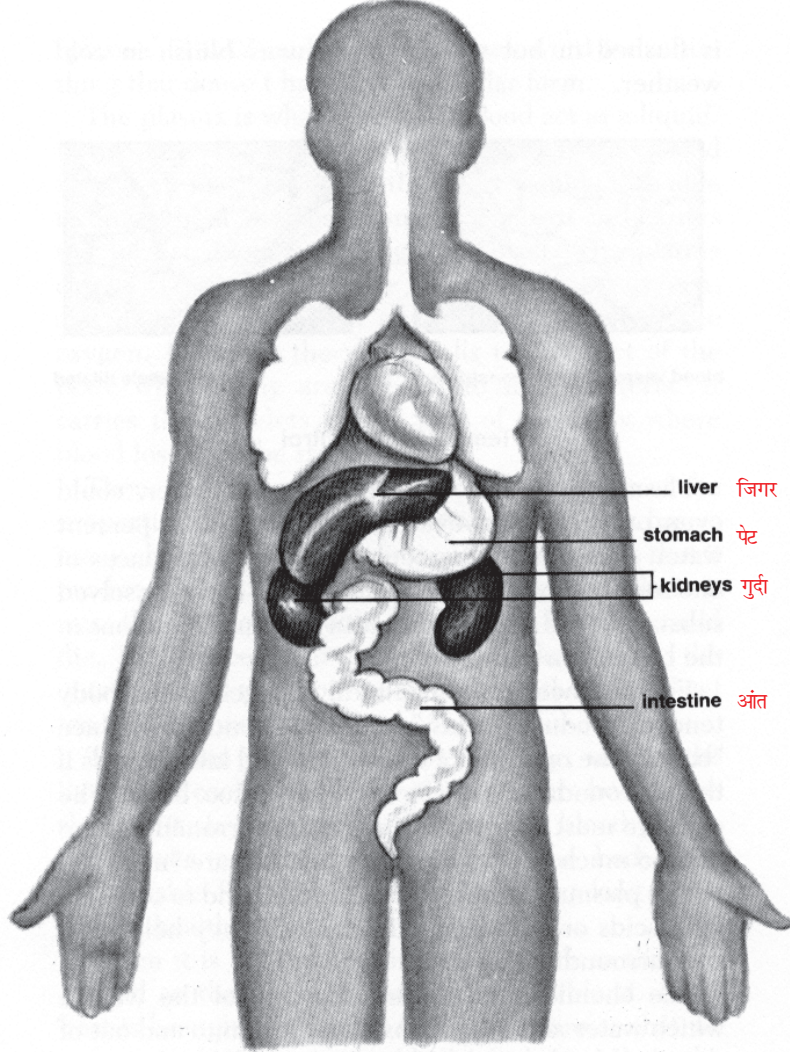
Major organs of the body

शरीर के मुख्य अंग

प्लाज्मा शरीर के पोषण लिए जरूरी चीजें लाता है। इसके लिए लाल-कोशिकाओं द्वारा लाई ऑक्सीजन पर्याप्त नहीं होती। शरीर को ऐसे पदार्थ भी चाहिए जिनके साथ ऑक्सीजन मिलकर ऊर्जा पैदा कर सके। यह पर्दाथ हमारे भोजन से मिलते हैं।

हम जो खाना खाते हैं वो हमारे पेट और आंतों में पचता है। भोजन में मौजूद जटिल परमाणुओं के छोटे सरल परमाणु बनते हैं और ये आंत की दीवार द्वारा प्लाज्मा में पहुंचते हैं। इन सरल परमाणुओं से बाद में अन्य जटिल परमाणु बनते हैं जो भविष्य में उपयोग के लिए मांड और वसा के रूप में शरीर में संग्रह किए जाते हैं। शरीर की आवश्यकता के अनुसार प्रोटीन के परमाणु भी बनते हैं।

शरीर के तुरन्त उपयोग के लिए प्लाज्मा में कुछ सरल परमाणु हमेशा तैरते रहते हैं। उदाहरण के लिए उसमें ग्लूकोज - शक्कर का एक परमाणु हमेशा होता है। 1844 में जर्मन रासायनशास्त्री कार्ल शिम्ट ने पहली बार रक्त में ग्लूकोज की खोज की।

शरीर की कोशिकाएं प्लाज्मा में से ग्लूकोज सोखती हैं और फिर उसे ऑक्सीजन से मिलाकर ऊर्जा पैदा करती हैं। उदाहरण के लिए मस्तिष्क की कोशिकाएं इसके लिए ग्लूकोज के अलावा और किसी चीज का उपयोग नहीं करती हैं। प्लाज्मा के अंदर फैटी-ऐँसिड्स भी होते हैं जिससे कि वे ऑक्सीजन से मिल सकें। ग्लूकोज की तुलना में फैटी-ऐँसिड्स अधिक ऊर्जा पैदा करते हैं और मांसपेशियां उनका विशेषतौर पर उपयोग करती हैं।

इतना साफ है कि लाल-कोशिकाएं ऑक्सीजन की वाहक हैं और प्लाज्मा ग्लूकोज और फैटी-ऐँसिड्स का। इस तरह शरीर की समस्त ऊर्जा की जरूरतें पूरी होती हैं। जैसे-जैसे प्लाज्मा में ग्लूकोज और फैटी-ऐँसिड्स खत्म होता है वैसे-वैसे वो भोजन से मिलता है, या फिर शरीर में संग्रहित मांड और वसा से मिलता है। अगर हमें पर्याप्त मात्रा में भोजन न मिले तो हमारा वजन गिरता है और शरीर में संचित मांड और वसा की मात्रा कम होती है। बहुत ज्यादा खाना खाने से शरीर में वसा की मात्रा बढ़ती है और हमारा वजन भी बढ़ता है जिससे हम मोटे होते हैं।

शरीर बेकार चीजें बाहर फेंकता है। जब ऑक्सीजन, ग्लूकोज और फैटी-ऐँसिड्स से मिलती है तब कार्बन-डाईऑक्साइड पैदा होती है। शरीर के लिए कार्बन-डाईऑक्साइड किसी काम की नहीं होती और उसके इकट्ठे होने से शरीर अम्लीय होकर उसकी मृत्यु हो सकती है।

भाग्यवश, कार्बन-डाईऑक्साइड रक्त के प्लाज्मा में घुल जाती है। रक्त के फेंफड़ों से गुजरते समय लाल-कोशिकाएं वहां ऑक्सीजन सोखती हैं और प्लाज्मा

वहां कार्बन-डाईऑक्साइड जमा करती है। सांस के रूप में अंदर ली गई हवा में 80 प्रतिशत नाइट्रोजन और 20 प्रतिशत ऑक्सीजन होती है। पर सांस द्वारा बाहर फेंकी गई हवा में 80 प्रतिशत नाइट्रोजन, 16 प्रतिशत ऑक्सीजन और 4 प्रतिशत कार्बन-डाईऑक्साइड होती है।

जब शरीर को कुछ विशेष प्रोटीन्स की जरूरत नहीं होती है तो वे यूरिया के छोटे परमाणुओं में टूटते हैं। 1842 में यह बात रूसी रासायनशास्त्री फ्रेडरिक हेनरिक बिडर (1810-1894) के शोध के बाद सामने आई।

यूरिया के शरीर में बने रहने से शरीर की मृत्यु हो जाती। पर यूरिया प्लाज्मा में घुलता है। वो गुर्दे में जाकर छनता है और फिर पेशाब द्वारा शरीर से बाहर फेंका जाता है।

दूसरे शब्दों में प्लाज्मा न केवल शरीर की कोशिकाओं के लिए पोषण लाता है, पर वो शरीर को उसकी बेकार चीजों यानी कचरे से मुक्त भी करता है।

शरीर के कुछ भागों में हारमोन्स भी पैदा होते हैं। 1902 में इसकी सबसे पहले खोज दो ब्रिटिश वैज्ञानिकों - विलियम मैडॉक बेयलिस (1860-1924) और अर्नेस्ट हेनरी स्टारलिंग (1866-1927) ने की। सूक्ष्म मात्रा में ये हारमोन्स शरीर की कई गतिविधियों को नियंत्रित करते हैं। वो प्लाज्मा के जरिए शरीर के हर उस हिस्से में पहुंचते हैं जहां उनकी जरूरत होती है।

Gas exchange

गैस की अदला-बदली
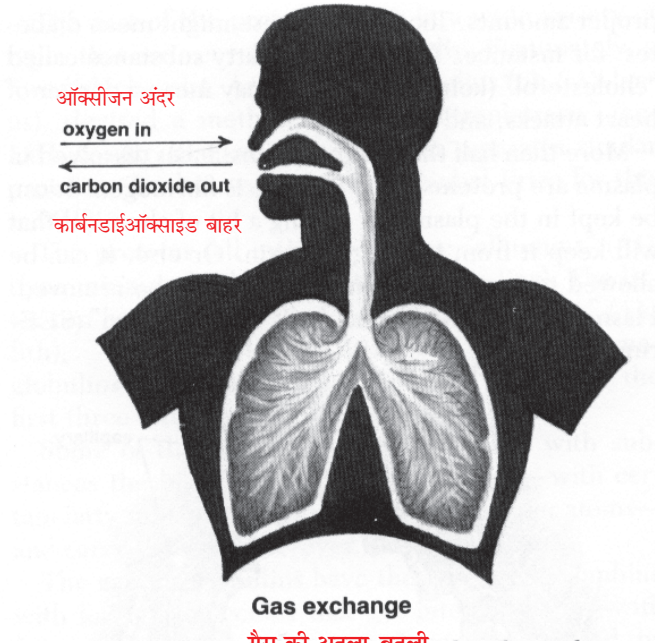
उदाहरण के लिए एक हारमोन है 'इनस्यूलिन' जो कोशिकाओं द्वारा ग्लूकोज के सोखने को नियंत्रित करता है। वो प्लाज्मा में ग्लूकोज की मात्रा को सही स्तर पर बनाए रखता है। पर्याप्त मात्रा में इन्सयूलिन का निर्माण नहीं होने से डायबेटीज नाम की गम्भीर बीमारी हो जाती है। डायबेटीज की बीमारी में प्लाज्मा में ग्लूकोज का स्तर बहुत ऊंचा चला जाता है।

आजकल मेडिकल जांच के दौरान व्यक्ति के खून का नमूना जरूर लिया जाता है। उसका विश्लेषण किया जाता है यह सुनिश्चित करने के लिए कि प्लाज्मा में घुले विभिन्न पदार्थों की मात्रा सही अनुपात में है। अगर उसमें अधिक मात्रा में ग्लूकोज हुआ तो डायबेटीज होने की सम्भावना है। वसा या 'कोलेस्टोरोल' अधिक मात्रा में होने से दिल के दौरे का खतरा बढ़ जाता है।

प्लाज्मा में घुली चीजों में आधे से ज्यादा भार प्रोटीन्स का होता है। इसमें से एक फिब्रीनोजिन है। फिब्रीनोजिन को प्लाज्मा में एक रासायन डालकर रखा जा सकता है। इससे वो फिब्रिन में नहीं बदलेगा। या फिर उसके फिब्रिन में बदलने के बाद में उसे हटाया जा सकता है। फिब्रीनोजिन रहित प्लाज्मा को सीरम बुलाते हैं।

Lung air sac
फेफड़ों का कोष्ठ
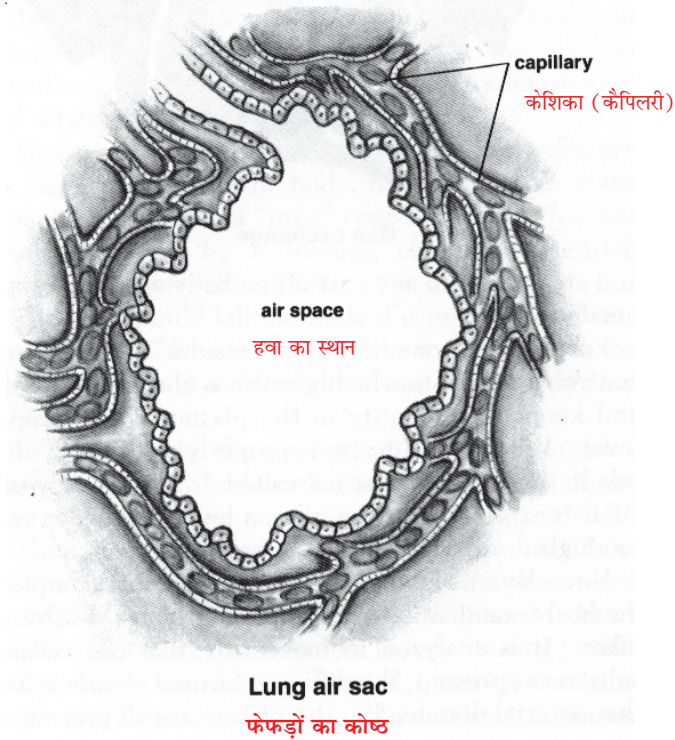
बाकी प्रोटीन्स अलग-अलग प्रकार के होते हैं पर रासायनिक रूप से एक प्रकार के होते हैं। भाग्यवश 1937 में एक स्वीडिश रासायनशास्त्री आर्ने विलहेल्म तिसेलीउस ने 'इलेक्ट्रोफोरीसिस' नाम का एक तरीका खोजा जिससे समान प्रकार के प्रोटीन्स को अलग-अलग किया जा सकता था। इस खोज के लिए 1948 में तिसेलीउस को नोबेल पुरुस्कार से सम्मानित किया गया।

प्रोटीन्स के दो प्रमुख समूह होते हैं - एल्बुमिन्ज और ग्लोबयूलिंज। एल्बुमिन्ज को आगे 'एल्फा-एल्बुमिन्ज', 'बीटा-एल्बुमिन्ज' और 'गामा-एल्बुमिन्ज' में बांटा जा सकता है। एल्फा, बीटा और गामा यूनानी वर्णमाला के पहले तीन अक्षर हैं।

इनमें से कुछ प्रोटीन्स कुछ ऐसे पदार्थों से जुड़ जाते हैं जिनकी शरीर को अल्प मात्रा में आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए ये प्रोटीन्स वसा, लोहे और तांबे के अणुओं से मिलकर उन्हें शरीर में जहां जरूरत होती है वहां पहुंचाते हैं।

गामा-ग्लोबयूलिंज में एक अद्भुत क्षमता होती है। वे शरीर में प्रवेश करने वाले खतरनाक 'वायरस' या बैक्टीरिया द्वारा पैदा किए जहर 'टॉक्सिन्स' और अन्य हानिकारक परदेशी अणुओं से जुड़ जाते हैं। इन हानिकाकर अणुओं से जुड़कर गामा-ग्लोबयूलिंज उन्हें उदासीन कर देते हैं। जो गामा-ग्लोबयूलिंज इस तरह काम करते हैं उन्हे हम 'एंटीबॉडीज' बुलाते हैं।

शरीर हमेशा उपयोगी 'एंटीबॉडीज' की सप्लाई को बरकरार रखता है। उदाहरण के लिए अगर आपको चेचक, खसरा, आदि बीमारी हो तो आपका शरीर 'एंटीबॉडीज' का निर्माण कर बीमारी के जीवाणुओं से लड़ता है और आपको निरोगी बनाने में मदद करता है। उसके बाद यह 'एंटीबॉडीज' आपके शरीर में हमेशा के लिए रहती हैं और आपको वो बीमारी फिर दुबारा नहीं होती है। इस प्रकार उस बीमारी से हमेशा के लिए निजात पाते हैं यानी आप उससे 'इम्यून' हो जाते हैं।

इसलिए गामा-ग्लोबयूलिंज शरीर के इम्यून-तंत्र का एक महत्वपूर्ण भाग है जो हमें बीमारियों से बचाता है।

आपने देखा होगा कि रक्त हमारे लिए अलग-अलग प्रकार से बहुत उपयोगी है। अगर हमारे पूर्वजों ने रक्त को जीवन की संज्ञा दी तो इसमें उन्होंने कोई गलती नहीं की। उनकी बात सही थी।

अंत